समयसार का अध्यात्म-प्रवाह

सुषमा सिंघवी, एमेरिटस प्रोफेसर, संस्कृत एवं प्राकृत विभाग, जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं

ईस्वी सन् के प्रारम्भ में हुए जैन परम्परा के शीर्ष आत्मवेत्ता **कुन्दकुन्दाचार्य** विरचित **समयसार** की प्राकृत गाथाओं पर **आत्मख्याति** नामक संस्कृत टीका के रचयिता सहज आत्म स्वरूपी ध्यानी **आचार्य अमृतचन्द्र** ने प्राञ्जल भाषा में समयसार के अध्यात्म प्रवाह को आत्मख्याति-कलशों (श्लोकों) में छलकाया है।

अध्यात्म शब्द आत्मज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'अधि' अर्थात् जानना और 'आत्म' अर्थात् आत्मा को। इस प्रकार आत्मा को जानना अध्यात्म है। अत: भारतीय चिन्तन परम्परा में आत्म-ज्ञान ही अध्यात्म-प्रवाह है।

समयसार शुद्धात्मा का प्रतिपादक ग्रन्थ है। आचार्य अमृतचन्द्र समयसार को जगत् का अद्वितीय चक्षु कहते हैं-इदमेकं जगच्चक्षुरक्षयम्[1]। समय शब्द के कोशगत कई अर्थ हैं जैसे-काल, देश, क्षेत्र, शास्त्र, मत, युद्ध आदि, किन्तु 'समयसार' में समय का अर्थ है आत्मा और 'सार' का अर्थ है-स्वरूप अर्थात् द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से रहित होना। ज्ञानावरणादि कर्म द्रव्य कर्म हैं, मोह, राग, द्वेष के परिणाम भावकर्म हैं। तथा कर्मोदय से प्राप्त शरीर, पुत्र, मित्र, मकान, सम्पत्ति आदि साधन, देश, नगर आदि नोकर्म कहे जाते हैं। अत: 'समयसार' का अर्थ है कर्मरहित, चेतनागुण स्वभाव वाला, स्वानुभवमात्र से प्रकाशित शुद्धात्मा। समयसार का दूसरा अर्थ है-सभी द्रव्यों-तत्त्वों-पदार्थों का आत्म स्वरूप।

जैसे मलिन सफेद वस्त्र को धोने के व्यवहार से मैल हटने पर सफेदी या निर्मलता प्रकट हो जाती है, निश्चय ही वह सफेदी कहीं बाहर से नहीं आती, तथैव कर्म-बन्धन-ग्रस्त जीव के कर्म-क्षय (निर्जरा) से शुद्धात्मा प्रकट हो जाती है। आत्मा की शुद्धावस्था किसी बाह्य व्यावहारिक साधन द्वारा आरोपित नहीं है। कुन्दकुन्दाचार्य ने इसीलिए कहा-निर्मल आत्मा ही समयसार है।

कर्मों से विमुक्त होने पर अर्थात् कर्मफल में आसक्ति नहीं रहने पर यह जीव (आत्मा) स्पष्ट ही परमात्मा हो जाता है और ज्ञानी, शिव, परमेष्ठी, सर्वज्ञ, विष्णु, चतुर्मुख तथा बुद्ध आदि संज्ञाओं से सम्बोधित किया जाता है। केवल ज्ञान से युक्त होने के कारण आत्मज्ञानी कहलाता है, शुद्धात्मा का स्वरूप कल्याणरूप है अत: उसे शिव कहते हैं, शुद्धात्मा परम पद को प्राप्त होने के कारण परमेष्ठी कहलाता है। समस्त पदार्थों का ज्ञाता है अत: उसे सर्वज्ञ कहते हैं, अनन्त ज्ञान के माध्यम से वह समस्त लोकालोक में व्याप्त है, इस विशेषता के कारण उसे विष्णु कहते हैं, चारों ओर स्थित समस्त पदार्थों का द्रष्टा होने के कारण वह चतुर्मुख कहलाता है तथा लोकालोक त्रिकाल में स्थित पदार्थों का ज्ञाता होने के कारण बुद्ध कहलाता है।

कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रकारान्तर से आत्मा को अहं प्रतीति द्वारा ग्राह्य कहा है–जो चैतन्य आत्मा है, निश्चय से वह 'अहं' या 'मैं हूं' इस प्रकार प्रज्ञा द्वारा ग्रहण करने योग्य है और अवशेष समस्त भाव व्यवहार से होते हैं अत: मुझसे परे हैं, ऐसा जानना चाहिए।

कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थों में जीव तथा आत्मा पदों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में दृष्टिगोचर होता है। विभिन्न स्थलों पर जीव तथा आत्मा के लक्षण, स्वरूप एवं भेदों पर प्रकाश डाला गया है। इसके विवेचन के आधार पर निष्कर्ष निकलता है कि जीव तथा आत्मा पर्यायवाची व्यञ्जक हैं और इनके द्वारा एक ही द्रव्य की अभिव्यञ्जना की गई है।

पर्यायवाची होने पर भी इन पदों का प्रयोग कुछ स्थलों पर निश्चित सन्दर्भों में रूढ़ हो गया प्रतीत होता है, जैसे–जीवों की इन्द्रियों की संख्या के आधार पर भेद करते समय कुन्दकुन्दाचार्य समस्त ग्रन्थों में एकेन्द्रिय जीव, द्वीन्द्रिय जीव, त्रीन्द्रिय जीव, चतुरिन्द्रिय जीव, पंचेन्द्रिय जीव जैसे पदों का उल्लेख करते हैं। एक भी स्थल पर एकेन्द्रिय आत्मा, द्वीन्द्रिय आत्मा, त्रीन्द्रिय आत्मा आदि रूप से कथन नहीं मिलता है।

इसी प्रकार जैनागम में इस बात का उल्लेख मिलता है कि अपना उपयोग आत्मा में केन्द्रित करो किन्तु ऐसा निर्देश कहीं नहीं मिलता कि उपयोग जीव में केन्द्रित करो। इसी प्रकार आत्मसाधना और आत्मचिन्तन के तुल्य जीव साधना और जीव चिन्तन जैसे व्यञ्जक का प्रयोग भी दृष्टिगोचर नहीं होता। इस प्रकार जो व्यवहारनय से जीव है वह निश्चयनय से आत्मा है।

कुन्दकुन्दाचार्य वर्णित निश्चयनय और व्यवहारनय के संदर्भ में ही औपनिषदिक साहित्य में पारमार्थिक दृष्टि और व्यावहारिक दृष्टि के उल्लेख हैं, बौद्ध साहित्य त्रिपिटक में लोकसंवृत्तिसत्य तथा परमार्थसत्य का प्रयोग इन्हीं अर्थों/सन्दर्भों में मिलता है, शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र–भाष्य में पारमार्थिक और व्यावहारिक सत्ता के बीच अन्तर स्पष्ट किया है, इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वे कुन्दकुन्दाचार्य की निश्चयनय और व्यवहारनय की कथनशैली से सुपरिचित थे।

समयसार के प्रारम्भ में कुन्दकुन्दाचार्य प्रतिज्ञा करते हैं कि मैं उस एकत्व-विभक्त आत्मा को निज-वैभव से दिखाता हूं, यदि मैं दिखाऊं तो प्रमाण मानना और यदि चूक जाऊं तो छल ग्रहण नहीं करना –

तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।
जदि दाएच्च पमाणं चुक्केच्च छलं ण घेत्तव्वं ।।[१]

'एयत्तविहत्तं' पद के द्वारा आत्मा के 'एकत्व' स्वरूप तथा आत्मा के 'विभक्त' स्वरूप का निरूपण हुआ है। आत्मा को गुण-भेद में नहीं बांटना तथा प्रदेश-भेद में नहीं बांटना यह आत्मा का एकत्व है अर्थात् आत्मा के अनन्त गुण और असंख्य प्रदेश स्वभावगत है, आत्मा से भिन्न नहीं, स्वरूपगत हैं, बाहरी नहीं हैं, अर्थात सभी जीवों की आत्मा समान है, यह आत्मा का एकत्व है। आत्मा की मान्यता में पर का प्रवेश न होना आत्मा का विभक्त स्वरूप है। पुद्गल आदि द्रव्य पर-पदार्थ हैं, इस प्रकार स्व और पर दो द्रव्यों के बीच सीमा या भेद जानकर पर-पदार्थ को आत्मा नहीं मानना, यह आत्मा का विभक्त स्वभाव है। जैसे किसी देश की सीमा रेखा खण्डित नहीं हो और उसमें किसी पर का प्रवेश नहीं हो यही देश की सुरक्षा है तथैव आत्मा का अपनापन स्वरूप ज्ञान गुण खण्डित नहीं हो, यह आत्म-एकत्व को पाना है और पुद्गल रूपी पर-पदार्थ जैसे धन-सम्पत्ति-सम्बन्धी-पद आदि को आत्मा समझकर उसके प्रति आसक्ति का भाव प्रवेश नहीं करे, यह आत्मा के विभक्त स्वरूप को पाना है। 'यह मैं हूं', 'यह मेरा है', 'मैं इसका कर्ता हूं', 'मैं इसका भोक्ता हूं' इन चार प्रकार के सम्बन्धों को तोड़ने वाले आत्मा के विभक्त स्वरूप को समझकर होने वाला व्यवहार सद्भूतव्यवहारनय कहलाता है तथा पर से सम्बन्ध जोड़कर होने वाला व्यवहार असद्भूत व्यवहारनय कहलाता है। कुन्दकुन्दाचार्य की उक्त प्रतिज्ञा का भावार्थ निम्न प्रकार से कहना चाहती हूं –

सब चेतन अनन्तगुणी आत्म, यह आत्मा का 'एकत्व' जान।
तन वैभव घर कुटुम्ब पर हैं, इनको आत्मा तू नहीं मान ।।
आत्मा 'विभक्त' पाना हो तो, पर में आत्मा को नहीं जान।
नश्वर पुद्गल-पर्याय नाश में, आत्महानि तू नहीं मान ।।
खुद सोच स्वयं के अनुभव से, तू सुनी सुनाई मत ही मान।
खुद का अनुभव ही है प्रमाण, निज वैभव से शुद्धात्म जान ।।

आचार्य अमृतचन्द्र ने 'सविहवेण' की विस्मृत व्याख्या करते हुए कहा है कि कुन्दकुन्दाचार्य का स्व-वैभव धन-संपत्ति, पद-प्रतिष्ठा जन्य नहीं था वरन् आत्मा के अनुभव से उत्पन्न स्वज्ञान-वैभव

था, इसलिए समयसार आत्मा का प्रतिपादक ग्रंथ बना। इस स्वविभव के पीछे आगमों की उपासना, निर्बाध युक्तियों का अवलम्बन, सद्गुरुओं के उपदेश का अनुग्रह और मुख्यत: स्वसंवेदन का अनुभव होने से कुन्दकुन्दाचार्य के स्वविभव का जन्म हुआ है।[३] इसी निज विभव से वे कुन्दकुन्दाचार्य आत्मा को दिखाने के प्रति कृत संकल्प होते हैं तथापि वे सचेत करते हैं कि श्रोता–पाठक–साधक अथवा अनुयायी आदि कोई भी स्वयं के अपने अनुभव–प्रत्यक्ष से परीक्षा करके मेरी बात को प्रामाणिक मानें, स्वीकार करें। मात्र मेरे कहने या मेरे सोचने या मेरे भक्त होने या मुझे आदर देने आदि की दृष्टि से मेरे वचनों को प्रामाणिक नहीं मानें। इतना उत्साह–पराक्रम एक अध्यात्म वाहक आचार्य का ही हो सकता है, जो आत्म–दर्शन के उस स्तर से बोलते हैं जहां वक्तव्यों का आधार तर्क न होकर स्वानुभूति का विलक्षण स्व–अध्यात्म–वैभव स्वारस्य है।

'आत्मख्याति' अध्यात्म–रचना होने से टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र ने किसी इष्ट देव का नाम लेकर नमस्कार मङ्गल नहीं किया अपितु समयसार–शुद्ध आत्मा को ही इष्ट मानकर मङ्गल किया। इससे टीका के आत्मख्याति नाम की सार्थकता भी प्रकट हो गई तथा समयसार के विशेषण पदों के माध्यम से परोक्षत: विभिन्न ऐकान्तिक मतवादों का निराकरण भी हो गया –

नम: समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे।।[४]

उपर्युक्त मङ्गल श्लोक में समयसार के विशेषण 'चित्स्वभावाय' का अर्थ है–'जिसका स्वभाव चेतनागुण स्वरूप है।' यहां गुणगुणी में अभेद प्रतीत होता है, इससे गुणगुणी को सर्वथा भिन्न मानने वाले तथा प्रथम क्षण में निर्गुण द्रव्य की उत्पत्ति मानने वाले नैयायिकों का मत एकांत दृष्टिकोण है ऐसा संकेतित है। आत्मा में ज्ञान सहजात माना गया है, समवाय सम्बन्ध से रहने वाला नहीं। 'स्वानुभूत्या चकासते' अर्थात् समयसार या शुद्ध आत्मा स्वयं के अनुभव से स्वयं प्रकाशित होता है, अपने को अपने से जानता है, ऐसा कहकर मीमांसकों के उस मत को ऐकान्तिक होने का संकेत दिया है जिसमें मीमांसकों के अनुसार आत्मा और ज्ञान सर्वथा परोक्ष हैं। साथ ही यह मत भी ऐकान्तिक है कि 'ज्ञान अन्य ज्ञान से जाना जाता है, ज्ञान अपने आपको नहीं जानता।'

'सर्वभावांतरच्छिदे' अर्थात् जो अपने से भिन्न सभी भावों (रागद्वेषादि भावों) को पृथक् कर दे ऐसी शुद्ध आत्मा समयसार को नमन कर आचार्य अमृतचन्द्र आत्मा के स्वरूप के दो पक्ष उजागर करते हैं–

(१) समस्त भावों के ज्ञाता और

(२) समस्त भावों से असम्पृक्त।

मीमांसक मत में सर्वज्ञ का अभाव माना जाता है, अत: 'सर्वभावांतरच्छिदे' विशेषण से मीमांसक मत निरस्त होता है। यहां जैनेतर मतों का निराकरण दिखाकर भी आचार्य अमृतचन्द्र का मन्तव्य है कि आपातत: भिन्न-भिन्न प्रतीत होने वाले दृष्टिकोण विरोधी नहीं होते अपितु सापेक्ष होते हैं, तदर्थ अर्थत: तत्त्व को समझने में अनेकान्त-स्याद्वाद उपयोगी है। इसीलिए वे अगले श्लोक में अपनी टीका के अनेकांतमय होने को प्रकाशित करते हैं –

अनन्तधर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मन: ।
अनेकान्तमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ।।[५]

इसे ऐसे समझना चाहिए-अनन्तधर्मवान आत्मा को, जो देखे जड़ से भिन्न।
अनेकान्तमयी प्रकट सरस्वती, ना होने देवे कभी भी खिन्न।।

आचार्य अमृतचन्द्र समय की परिभाषा देने का उपक्रम करते हैं और उसे द्रव्य तथा भाव दृष्टि से प्रस्तुत करने की प्रतिज्ञा करते हैं –

'अस्य समयप्रकाशस्य प्राभृताह्वयस्यार्हत्प्रवचनावयवस्य
स्वपरयोरनादिमोहप्रहाणाय भाववाचा द्रव्यवाचा च परिभाषणमुपक्रम्यते ।'[६]

समय की परिभाषा – चेतन स्वभाव वाला जीव नामक पदार्थ समय है-'चित्स्वभावो जीवो नाम पदार्थ: स समय: ।'

'समय' दो प्रकार का है-१. स्वसमय और २. परसमय।

सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित जीव स्वसमय है तथा पुद्गल कर्म प्रदेशों में आसक्त रहने वाला जीव परसमय है –

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिदो तं हि ससमयं जाण ।
पोग्गलकम्मपदेसट्ठिदं च तं जाण परसमयं ।।[७]
चेतना औ' चेतनों के हित सदा सन्नद्ध जो,
दूसरा आसक्त जड़ में और संग्रह-व्यस्त जो ।
जान लो क्रमश: उन्हें वे 'स्वसमय' और 'परसमय',
एक अध्यात्मी स्वतन्त्र दूसरा परतन्त्र जड़मय ।।

अनादिकाल से इस संसार में जीव कामना और मोह के व्यवहार से तो परिचित है किन्तु आत्मा का एकत्व और विभक्त स्वरूप प्राप्त करना उसके लिए सुलभ नहीं है। आचार्य अमृतचन्द्र स्पष्ट करते हैं

कि जैसे लोभवश व्यक्तियों के द्वारा बैल को जोता जाता है तथैव हम मोह और तृष्णा के आतंक से आतंकित हुए चिर परिचित काम और भोग हेतु भागते रहते हैं। क्रोध-मान-माया-लोभ इन कषायों से मलिन हुए हम, स्व और पर का सही-सही ज्ञान नहीं होने से, आत्मा के एकत्व और विभक्त स्वरूप को प्राप्त नहीं कर पाते हैं।[८]

समयसार के अनुसार जिस प्रकार किसी प्रान्त विशेष के व्यक्ति को उसी प्रान्त विशेष के व्यवहार वाली भाषा से ही ज्ञान कराना सम्भव होता है। उसी प्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ का कथन अशक्य है-

यथा नापि शक्योऽनार्योऽनार्यभाषां विना तु ग्राहयितुम्।
तथा व्यवहारेण विना परमार्थोपदेशनमशक्यम्।।[९]

जब व्यवहार और निश्चय के माध्यम से आत्म स्वरूप समझ में आ जाता है तब तत्काल ही उत्पन्न होने वाले अतीव आनन्द से उनके हृदय में सुन्दर बोध तरंगें उछलने लगती हैं।[१०]

सो णाणमओ जीवो कम्माणमकारगो होदि।[११]

अर्थात् वह ज्ञानमय जीव (आत्मा) पौद्गलिक कर्मों का कर्ता नहीं होता और पौद्गलिक परपदार्थ आत्मा के अनन्त ज्ञान-दर्शन-वीर्य-सुख आदि निज भावों के कर्ता नहीं हो सकते। कोई पदार्थ न सुख दाता है, न दु:ख दाता, जीव स्वयं अपने कर्म-परिणामों से ही सुखी-दु:खी होता है अत: हमें भ्रमित नहीं होना चाहिए –

दर्पण में जो दीखता, मोर नहीं, वह काच।
जीव में जो कर्त्तृव्य दिखे, वह पुद्गल में ही साच।।

कुन्दकुन्दाचार्य के अनुसार निश्चय से मैं एक हूं, शुद्ध हूं, दर्शन ज्ञान से तन्मय हूं, सदा अरूपी हूं, अन्य परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है –

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइयो सदारूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमेत्तं पि।।[१२]

कुन्दकुन्दाचार्य ने जीव का स्वरूप अद्वैत वेदान्त की भाषा में व्यक्त किया है –

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।।[१३]

चेतन आत्मा को 'नेति नेति' से ही व्यक्त किया जा सकता है। रस, रूप, गंध, शब्द, स्पर्श आदि कोई लिङ्ग निराकार जीव (आत्मा) के ज्ञापक नहीं है। ये परिणाम पुद्गल के ही होते हैं। पुद्गल को जीव कैसे कहा जा सकता है? –

एए सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा।
केवलिजिणेहिं भणिया कह ते तीवो त्ति वुगांति।।[१४]

कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा निश्चयनय और व्यवहारनय के आत्मनिरूपण वेदान्त के 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' के अत्यन्त निकट है तथापि कुन्दकुन्दाचार्य जगत्–व्यवहार को मिथ्या कहने की अपेक्षा अपरमार्थ कहना पसन्द करते हैं –

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे।।[१५]

परमभावदर्शियों के लिए शुद्ध आत्मा का प्रतिपादक शुद्ध (निश्चय) नय तथा अपरमभाव में स्थित संसारी जीवों के लिए आत्मा का उपदेश व्यवहारनय से करना योग्य है। आचार्य अमृतचन्द्र ने व्यवहारनय और निश्चयनय दोनों को जानने की आवश्यकता बताने हेतु निम्न गाथा को उद्धृत किया है–

जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं।।

अर्थात् व्यवहारनय के बिना तीर्थ का तथा निश्चयनय के बिना तत्त्व का नाश हो जाएगा।

व्यवहार और निश्चय इन दो नयों के आपाततः प्रतीत होने वाले विरोध को समाप्त करने वाले स्याद्वाद की मुद्रा से चिह्नित जिन वचनों में रमण करते हैं वे समयसार (आत्मसाक्षात्कार) को प्राप्त करने वाले होते हैं –

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदांके जिनवचसि रमंते ये स्वयं वांतमोहाः।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चैरनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षंत एव।।[१६]

विरोध परिहार की इस स्याद्वादमय शैली को कुन्दकुन्दाचार्य ने सम्पूर्ण समयसार में जीया है –

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं।
पक्खादिक्कंतो पुण भण्णादि जो सो समयसारो।।[१७]

हिन्दी पद्यान्तर में डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल ने इस प्रकार कहा है –

अबद्ध है या बद्ध है जीव, यह सभी नय पक्ष है।
नयपक्ष से अतिक्रान्त हो, वह ही समय का सार है।।

आचार्य अमृतचन्द्र के अनुसार जो नयों के पक्षपात को छोड़कर सदा स्वरूप में स्थित होकर रहते हैं, वे साक्षात् अमृत का पान करते हैं क्योंकि उनका चित्त विकल्प जाल (संशय एवं संप्रदाय मोह आदि) रहित हो जाता है और एकदम शान्त हो जाता है –

य एवमुक्त्वा नयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यम्।
विकल्पजालच्युतशान्तचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबन्ति।।[१८]

भांति-भांति से नयों के पक्ष को प्रस्तुत करने का प्रयास आत्मख्याति में भी हुआ है –

एकस्य बद्धो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।[१९]

अर्थात्-एक कहे ना बंधा दूसरा कहे बंधा है, किन्तु यह तो उभयनयों का पक्षपात है।
पक्षपात से रहित तत्त्ववेदी जो जन हैं, उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है।।

कुन्दकुन्दाचार्य ने व्यवहारनय और निश्चयनय, पर्यायार्थिकनय और द्रव्यार्थिकनय, अशुद्धनय और शुद्धनय/पारमार्थिकनय आदि को समझाने हेतु आगम साहित्य की शब्दावली की विशिष्ट परिभाषाएं करते हुए उनके नयपक्षातिक्रान्त अध्यात्मस्वरूप को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है जो अन्य आचार्यों की लेखनी में दुर्लभ है।

जैन आचार का एक प्रमुख कर्त्तव्य है-'षडावश्यक।' प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, प्रायश्चित, परमसमाधि (सामायिक), परमभक्ति (योग) इन षडावश्यक के अन्तर्गत प्रतिक्रमण का सामान्यतया अर्थ किया जाता है 'पीछे लौटना'-'अतीतदोषनिवर्तनं प्रतिक्रमणम्'[२०]-कृत दोषों की निवृत्ति प्रतिक्रमण है। कुन्दकुन्दाचार्य प्रतिक्रमण का भी अध्यात्मपरक अर्थ करते हैं –

'कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं।
ततो णियत्तए अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं।।'[२१]

अर्थात् पूर्वकृत जो अनेक प्रकार के विस्तार वाले शुभ तथा अशुभ कर्म हैं, उससे जो आत्मा अपने को दूर रखता है, वह आत्मा प्रतिक्रमण है।

प्रत्याख्यान का तात्पर्य है- भविष्यत्काल में दोष न होने देने के लिए सन्नद्ध होना- 'अनागतदोषापोहनं प्रत्याख्यानम्'।[२२] कुन्दकुन्दाचार्य प्रत्याख्यान का भी अध्यात्मपरक अध्ययन करते हैं –

कम्मं जं सुहमसुहं जम्हि य भावम्हि वज्झइ भविस्सं।
तत्तो णियत्तए जो सो पच्चक्खाणं हवइ चेया।।[२३]

अर्थात् भविष्यत्काल का शुभ-अशुभ कर्म जिस भाव में बंधता है उस भाव से जो आत्मा निवृत्त होता है वह आत्मा प्रत्याख्यान है। कुन्दकुन्दाचार्य इसी प्रकार आलोचना आदि 'आवश्यको' का भी अध्यात्मपरक अर्थ करते हैं।

सम्यक् दर्शन के आठ अङ्गों की परिभाषाओं में भी अध्यात्म के दर्शन होते हैं –

जो चेतयिता-आत्मा कर्मबन्धक मोह के कारणभूत मिथ्यात्व (-अविरति-प्रमाद-कषाय) इन चारों भावों को नि:शङ्क हुआ नष्ट कर देता है, वह आत्मा नि:शङ्क सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए। इसी प्रकार कर्मों के फल में तथा सब धर्मों में कांक्षा (इच्छा) नहीं रखने वाला आत्मा नि:कांक्ष सम्यग्दृष्टि है, ऐसा जानना चाहिए –

जो दु ण करेदि कंखं कम्मफलेसु तह सव्वधम्मेसु।
सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।।[२४]

चेतयिता आत्मा (चेदा) सम्यग्दृष्टि है, ऐसा अध्यात्मपरक अर्थ अन्य पूर्ववर्ती या पश्चाद्वर्ती आचार्यों द्वारा दी गई परिभाषाओं से पूर्णतया भिन्न एवं विलक्षण है।

सम्यग्दृष्टि के 'वात्सल्य' अङ्ग का अर्थ व्यवहारदृष्टि से धार्मिक लोगों पर, माता-पिता-भ्राता के ऊपर प्रेम रखना है-'धर्मस्थेषु मातरि पितरि भ्रातरि वानुरागो वात्सल्यम्'।[२५]

किन्तु कुन्दकुन्दाचार्य वात्सल्य अङ्ग का अध्यात्मपरक अर्थ करते हैं –

'जो कुणदि वच्छलत्तं तियेह साहूण मोक्खमग्गम्मि।
सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।।'[२६]

अर्थात् जो चेतयिता मोक्षमार्ग में स्थित साधुत्रय-आचार्य, उपाध्याय, साधु अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीन में वात्सल्य करता है वह वात्सल्य भाव सहित आत्मा सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

इस प्रकार कुन्दकुन्दाचार्य बाह्य व्यवहार की भी अध्यात्मपरक व्याख्या करते हैं, जिनकी तुलना श्रीमद्भगवद्गीता के अध्यात्म से भी की जा सकती है। निम्न उदाहरण द्रष्टव्य है –

जह मज्जं पिवमाणो अरदिभावेण मज्जदि ण पुरिसो।
दव्वुवभोगे अरदो णाणी वि ण बज्झदि दहेव।।[२७]

भाव यह है कि जैसे कोई व्यक्ति तीव्र अरतिभाव या अनासक्तभाव से मदिरा को पीता है, तो दवा के रूप में ली गई मदिरा से मदहोश नहीं होता, अपने होश नहीं खोता। तथैव राग आदि भावों के प्रति अनासक्तभाव (वैराग्य) से विषय सेवन कर्मबन्ध का कारण नहीं होता।

भगवद्गीता के अनुसार निरन्तर आसक्ति से रहित होकर सदा कर्त्तव्यकर्म को करता हुआ मनुष्य परमात्मा को प्राप्त हो जाता है –

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः।।[२८]

समयसार और गीता का यह भावसाम्य कहीं-कहीं तो शब्दसाम्य का रूप भी ले लेता है –

जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णी णाणी एत्तो दु विवरीदो।।[२९]
य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।।[३०]

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि वैदिक संस्कृति तथा श्रमण संस्कृति दोनों में समान अध्यात्मप्रवाह अनवरत रूप से प्रवहमान है।

अध्यात्म स्वयं अपनी पहचान प्रदान करता है – 'मैं आत्मा हूं।' स्वयं को चेतन आत्मा समझना आध्यात्मिक ज्ञान के अनुभव की पहचान है जिससे भौतिक या पौद्गलिक पदार्थों में चेतना का स्थानांतरण करने का अज्ञान समाप्त हो जाता है। वास्तव में अपने आध्यात्मिक अस्तित्व को भूलकर ही हम दुःखी होते हैं, परतंत्र बनते हैं, वस्तु-व्यक्ति-परिस्थिति से राग-द्वेष करते हैं। अध्यात्म का अर्थ है

बाहर से भीतर की ओर उन्मुख होना, बहिर्याग से अन्तर्याग की ओर प्रस्थान करना, कर्मकाण्ड के मर्म तत्त्वज्ञान को समझना, व्यवहार से परमार्थ का लक्ष्य करना। बाह्य व्यवहार भेद-बुद्धि का परिचायक है किन्तु अध्यात्म भेद में अन्तर्निहित अभेद के साक्षात्कार का नाम है। अभेद में नाम-जाति-स्थान, वेश-परिवेश, वाद-सम्प्रदाय आदि भेदों का विलय हो जाता है। इतिहास इसका साक्षी है-ऋषभदेव एक तरफ जैन परम्परा के आदि तीर्थंकर के रूप में पूज्य हैं और दूसरी तरफ ऋषभदेव ही वैदिक परम्परा में विष्णु के अवतार के रूप में वन्दनीय हैं। जैन और वैदिक परम्पराओं के सिद्धान्त और व्यवहार के समस्त भेद वहां समाप्त हो जाते हैं, जहां ऋषभदेव को मोक्षमार्ग के प्रणेता के रूप में आध्यात्मिक व्यक्तित्व मान लिया जाता है।

'तस्याग्नीध्रस्ततो नाभिर्ऋषभस्तत्सुतः स्मृतः।'[३१]
'तमाहुर्वासुदेवांशं मोक्षधर्मविवक्षया।'[३२]

श्रीमद्भागवत में ऋषभदेव को मोक्षमार्ग की विवक्षा से विष्णु का अवतार कहा है।

'.....मार्गो रत्नत्रयात्मकः उच्यते तत्कारणात्तीर्थंकरो भवति।'[३३]

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग है और उसे प्रचलित करने वाले होने से (ऋषभदेव) तीर्थङ्कर हैं, ऐसा कथन जैन ग्रन्थ भगवती आराधना का है।

अध्यात्मपरक व्याख्याओं से ही भारतीय चिन्तन-परम्परा में संकुचित अर्थ और पक्षपातपूर्ण दृष्टि का विलय तथा उदार और सापेक्ष समतापूर्ण दृष्टि का विकास परिलक्षित होता है। भारतीय शास्त्र परम्परा में अध्यात्मप्रवाह के फलस्वरूप ब्राह्मण ग्रन्थों के बहिर्याग आरण्यकों में अन्तर्याग के रूप में व्याख्यायित हुए। यज्ञों की पशुबलि का आध्यात्मिक अर्थ क्रोधादि भावों की बलि देना किया गया। समयसार में भी जैनेतर दर्शनों एवं प्रस्थानों के मंतव्यों को नय और निक्षेप के दृष्टिकोण से प्रस्तुत कर उनमें निहित एक अभिन्न समान आध्यात्मिक सूत्र को प्रकट करने का प्रयास किया गया है। कुन्दकुन्दाचार्य के अध्यात्म-प्रवाह को हृदयंगम कर आचार्य अमृतचन्द्र समयसार को नयपक्षातिक्रान्त सिद्ध करते हैं, जहां नय अथवा निक्षेप अथवा प्रमाण सभी व्यर्थ हो जाते हैं, द्वैत भी विलुप्त होकर अद्वैत आत्म तत्त्व का ही अनुभव होता है-

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणम्।
क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम्।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वङ्कषेऽस्मि-
न्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव।[३४]

समयसार की यह नयपक्षातिक्रान्तता सिद्ध करती है कि कुन्दकुन्दाचार्य की रचनाओं का आधार स्वानुभूति एवं आत्मदर्शन है, तर्क या बुद्धिविलास नहीं, इसलिए उनके वक्तव्यों में संप्रदाय या पक्षपात निरर्थक हो जाता है। भाषा तो वे जैनाचार्य की बोलते हैं किन्तु वह भाषा अनेकान्त स्याद्वादमयी होने से स्वानुभूतिपरक होने से प्रत्येक वाद-विवाद से ऊपर उठ जाती है।

कुन्दकुन्दाचार्य हो या आचार्य अमृतचन्द्र, ये तो अध्यात्ममनीषी हैं, हम अपनी-अपनी सीमाओं के अनुसार उन्हें जैन या जैनेतर सम्प्रदायों की घेराबन्दी में सीमित कर देते हैं। वास्तव में अध्यात्म प्रधान आचार्य सदा ही सम्प्रदाय मुक्त रहते हैं।

पाद-टिप्पण

१. आत्मख्याति कलश, २४५

२. समयसार, ५

३. इह किल सकलोद्भासिस्यात्पदमुद्रितशब्दब्रह्मोपासनजन्मा समस्तविपक्षक्षोदक्षमातिनिस्तुष-युक्त्यवलम्बनजन्मा निर्मलविज्ञानघनान्त-र्निमग्नपरापरगुरुप्रसादीकृतशुद्धात्मतत्त्वानुशासनजन्मा अनवरतस्यन्दिसुन्दरानन्दमुद्रितामन्दसंविदात्मकस्वसंवेदनजन्मा च य: कश्चनापि ममात्मन: स्वो विभवस्तेन समस्तेनाप्ययं तमेकत्वविभक्तमात्मानं दर्शयेऽहमिति बद्धव्यवसायोऽस्मि। किन्तु यदि दर्शयेयं तदा स्वयमेव स्वानुभवप्रत्यक्षेण परीक्ष्य प्रमाणीकर्तव्यम्। यदि तु स्खलेयं तदा तु न छलग्रहणजागरुकैर्भवितव्यम्।। समयसार टीका, ५

४. आत्मख्याति कलश, १

५. आत्मख्याति कलश, २

६. आत्मख्याति गाथा टीका, १

७. समयसार, २

८. सकलस्यापि जीवलोकस्य महता मोहग्रहेण गोरिव वाह्यमानस्य प्रसभोज्जृम्भिततृष्णातंकत्वेन विषयग्राममुपरुन्धानस्य कामभोगानुबद्धा कथा तु श्रुता-परिचिता-अनुभूता च अनन्तश:। निर्मलविवेकालोकविविक्तं केवलमेकत्वं तु नित्यव्यक्ततयान्त:प्रकाशमानमपि कषायचक्रेण सह एकीक्रियमाणत्वादात्यन्ततिरोभूतं सत् स्वस्यानात्मज्ञतया परेषामात्मज्ञानानामनुपासनाच्च न कदाचिदपि श्रुतपूर्वं, न कदाचिदपि परिचितपूर्वं न कदाचिदप्यनुभूतपूर्वं च। (आत्मख्याति टीका, ४)

९. समयसार गाथा टीका ८

१०. समयसार गाथा टीका

११. समयसार, ९३
१२. समयसार, ३८
१३. समयसार, ४९
१४. समयसार, ४४
१५. समयसार, १२
१६. आत्मख्याति कलश, ४
१७. समयसार, १४२
१८. आत्मख्याति कलश, ६९
१९. आत्मख्याति कलश, ७०
२०. राजवार्तिक, ६.२४.११
२१. समयसार, ३८३
२२. राजवार्तिक, ६.२४.११
२३. समयसार, ३८४
२४. समयसार, २३०
२५. भगवती आराधना, ४५.१५०.५
२६. समयसार, २३५
२७. समयसार, १९६
२८. श्रीमद्भगवद्गीता, ३.१९
२९. समयसार, २४७
३०. श्रीमद्भगवद्गीता, २.१९
३१. श्रीमद्भागवत, ११.२.१५
३२. श्रीमद्भागवदत, ११.२.१६
३३. भगवतीआराधना, ३०२
३४. आत्मख्याति कलश, ९